



मोहन राकेश के नाटकों में अस्तित्वादी जीवन-दर्शन [आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे के विशेष संदर्भ में]

शोधपत्र-हिन्दी

*डॉ. श्रीमती अनीता गुप्ता

अस्तित्वादी आधुनिक युग का बहुचर्चित और सर्वाधिक प्रतिष्ठित दार्शनिक मतवाद है। अस्तित्वादी का प्रारम्भ सुप्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक सारेन कीर्किगार्ड के चिंतन से होता है।¹ उनके अनुसार—“ अस्तित्व शब्द का उपयोग इस दावे पर जोर देने के लिए किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति इकाई अपने आप में स्वयं जैसी है और आध्यात्मिक या वैज्ञानिक प्रक्रिया के संदर्भ में अविश्लेषणीय है। यह वह अस्तित्वमय है जो स्वयं चुनाव करता है एवं स्वयं चिंतन करता है वह कि उसका भविष्य कुछ अंशों में उसके स्वतन्त्र चुनाव पर निर्भर है अतः इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।²”

बीसवीं शताब्दी के डा० मार्टिन हिडेगर, कार्ल यास्पर्स ग्रेवियल मार्शल सार्त्र, कामू आदि मुख्य अस्तित्वादी विचारक व दार्शनिक हैं। चयन की स्वतन्त्रता पर सभी विचारकों ने विचार किया है। मोहम्मद, मृत्यु व मृत्यु संत्रास, विसंगति वेदना, लज्जा, अहं, भय, चिन्ता, अलगाव, प्रेम, मानवीय यथार्थ, सत्य, निरर्थकता और अस्तित्व बोध आदि कुछ ऐसे अभिलक्षण हमें अस्तित्वादी में दृष्टिगोचर होते हैं। अब हम यह देखते हैं कि नाटककार मोहन राकेश के नाटकों में अस्तित्वादी जीवन दर्शन है या नहीं और है तो किन-किन रूपों के साथ। ‘आषाढ़ का एक दिन’ को हम उपर्युक्त कसौटी पर परखते हैं तो हम पाते हैं कि चुनाव का प्रश्न कालिदास के सम्मुख उठ खड़ा हुआ है। राज्याश्रय स्वीकार करे या नहीं। साहित्य व राजनीति में से किसे अपनाए। एक साहित्यकार के जीवन की मूल समस्या है, साहित्यकार के रूप में अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने की और शेष समस्याएं इस एक समस्या के साथ जुड़ी हैं।¹ तो अस्तित्व का बोध यह भी एक कृतिकार के रूप में—और उसकी रक्षा का प्रयत्न व प्रश्न ही ‘आषाढ़ का एक दिन’ नाटक ही मूल समस्या है। गलत चुनाव व्यक्ति को गलत

दिशा में ले जाता है। ऐसी स्थिति में ही अस्तित्व बोध और उसकी रक्षा का प्रश्न स्वतः उभरकर साकार हो उठता है। सार्त्र की मात्यता के अनुसार क्षण की पूर्णता को स्वीकार करना चाहे बुजुआपन कह लिया जाय, पर उसको पकड़ कर ली लेने में भी निष्चय ही एक बहुत बड़ी सफलता है जिसे पाकर भी मल्लिका प्राप्त नहीं कर पाती और कालिदास अपने आपको उसे पकड़ पाने में ही असमर्थ रह जाता है। ‘लहरों के राजहंस’ नाटक का ‘मूल प्रयोजन व्यक्ति के मन में द्वन्द्व भाव को व्यजित करता है।

लहरों के राजहंस में हम नंद व सुंदरी को इन दर्शनों से प्रभावित पाते हैं। इनका द्वन्द्व आकर्षण और वितर्ण के दर्शन पर आधारित है। इसे पार्थिवता अपार्थिवता के प्रतीक भी कह सकते हैं। आधुनिक शब्दावली में हम इसे अस्तित्वादी दर्शन के नाम से अभिहित करते हैं संशय, बुद्धिवाद और स्वानुभव से आत्मज्ञान की प्राप्ति के विशय में आधुनिक अस्तित्वादी चिन्तक अनेक स्तरों पर गौतम बुद्ध के निकट पड़ते हैं।..... और गौतम बुद्ध निवृत्तिवादी थे और ये आधुनिक चिंतक प्रवृत्तिवादी हैं। यही वह महत्वपूर्ण बिन्दु है जहां से नंद गौतम बुद्ध के मूल मंत्र ‘आत्मदीपोभव’ को पूर्णतः स्वीकार करते हुए भी इन अस्तित्वादियों के अधिक निकट आ जाता है।¹ नंद का संशय, संत्रास, सुंदरी के प्रति पहले आकर्षण और फिर विकर्षण, गौतम बुद्ध द्वारा अपना विश्वास ओढ़ा लेने के बाद भी उसका यह कथन कि “ मैं तुम्हारा या किसी का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।² और उससे पहले यह कहता है—“ आत्म रक्षा और आत्मविनाश—इन दो प्रवृत्तियों के बीच में एक साथ जिया—कैसे और क्यों ?.... और क्या उसी तरह जीकर सुख मिला ?” प्रश्न पर प्रश्न यह आज की देन है। सत्य वह नहीं है जो सिद्धान्त है, सत्य वह है जो व्यक्ति के

*व्याख्याता-हिन्दी, राजकीय महाविद्यालय, कोटा [राजस्थान]

अस्तित्व के संदर्भ में कार्य रूप में परिणत हो जाता है—“ आकाश में लटकते नीले काले बिंदु कोरे सिद्धान्तों के वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हो ?,”⁴ तो दार्शनिक धरातल पर भी सत्य वही है जो लहरों की परिस्थितियां

राजहंसों के सामने ला देती है। नंद सुंदरी या गौतम किसी के मार्ग पर चल नहीं पाता। शायद चलना भी नहीं चाहता या फिर चाहकर भी चल पाने की मानसिकता नहीं जुटा पाता। वह स्थिर भाव से सुन्दरी के रूप यौवन को भोग नहीं पाता, क्योंकि “कहीं भीतर उसके मन में अस्थूल और असंसारी तत्वों के प्रति भी आकर्षण है।” यह आकर्षण उसके मन में झूला या अस्तित्व तरंग बनकर उसके मन से दोलायमान रखता है। आधुनिक शब्दावली में वह अपने अस्तित्व के प्रति सशक्त को उठता या रहता है। स्यात् वह सुंदरी गौतम दोनों से हटकर अपने आप में या अपने भीतर से ही वह तत्व पाना चाहता है कि जो समग्रतः एवं संपूर्णतः उसके नितान्त निजी अस्तित्व या व्यक्तित्व का परिचायक हो।

नंद जब अपनी स्मिता को संपूर्ण शक्ति से व्यक्त कर पाता है तब तक सम्बन्धों के, उसके अस्तित्व के सारे अर्थ ही बदल चुके होते हैं तब नंद ‘उस एक’ को पाने के लिए तड़प उठता है—“मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं, और अपने को ढकने के लिए जिसके पास आवरण नहीं है उनके पास था जो मन यहां के लिए व्याकुल थी। अब तुम्हारे सामने हूँ तो मन कहीं और के लिए व्याकुल था।”¹ स्यात् इस ‘कहीं’ और में ही अस्तित्व की सारी छटपटाहट छिपी है “क्योंकि यहां हो या वहां हो, सब जगह मैं अपने को एक सा अधूरा अनुभव करता हूँ।”² तो फिर पूर्णता कहां है? क्या अस्तित्व के नाम पर हमेशा छटपटाहते रहने और अधूरापन अहसासते रहने में ही पूर्णता है? अस्तित्ववाद के अनुसार निराश होकर वयक्ति अन्तर्मुखी चिंतन के द्वारा अपने वास्तविक अस्तित्व को ढूंढता है और इस अन्वेषण की प्रक्रिया में वह सभी स्थूल बंधनों को अतिक्रान्त कर सकता है। यह सिर्फ एक यात्रा है या महज एक तलाश भी बनी रह सकती है।³ ‘आधे-अधूरे’ की संरचना का मूल प्रेरणा स्रोत अस्तित्वादी चिंतन ही है। दो विश्वयुद्धों के बाद नव स्वतन्त्रता प्राप्त देशों में जो विकास की प्रक्रियाएँ चली उनके कारण जीवन मूल्यों के परम्परागत रूपों पर जो दबाव पड़े, उन सबने अन्य सभी विकाशील देशों की मानव चेतना के सामने, अस्तित्व बोध एवं उसकी रक्षा का प्रश्न ज्वलंत रूप में लाकर खड़ा कर दिया....कल के शत्रु और नितान्त विरोधी विचारधाराओं वाले सभी राष्ट्र भी सामाजिक

असुविधापूर्ण सुविधाओं के लिए इस कारण ही परस्पर समझौता करते हुए दिखाई दे रहे हैं।”¹ नाटक ‘आधे अधूरे’ में भी ठीक यही स्थितियां दर्शायी गयी हैं। यहां भी असुविधापूर्ण सुविधाओं को पाने की इच्छा ही सभी में जा-जाकर लौट आने या प्रत्यावर्तन की विवशता भी जीवित रहने के लिए मजबूर है कि “चारों ओर मूल्यों का विघटन हो रहा है, राजनीतिक और आर्थिक दबावों ने काल मण्डित होकर मूल भावों को एकदम दबाकर गला घोटकर रख दिया है।”² परिणामतः अस्तित्ववादियों की दृष्टियों में जीवन का अंतिम सत्य मृत्यु की छाया ही सर्वत्र परिव्याप्त है तो जीवन के शाश्वत मूल्यों की रक्षा की अवधारणा ही कहां रह जाती है? परिणामतः और सब तो विगत की कहानी बन गया है, मुख्य बन गया है अस्तित्व रक्षा का प्रश्न।

आज का व्यक्ति “अस्तित्व पर आ बने इन्हीं संकटों को झेलता, कुंढता, झुंझलाता हुआ जी तो रहा है, पर अन्त में एक स्तर पर पहुँचकर वह टूटकर बिखर जाने के लिए विवश है। राकेश ने अपने आधे-अधूरे ‘नाटक’ में विशेषकर तथा अन्य नाटकों में भी सामान्यतः अस्तित्व के टूटन के दौर से गुजर रहे इसी प्रकार के व्यक्ति या व्यक्तियों का चित्रण किया है।³ ‘आधे अधूरे’ नाटक में सभी पात्र अपनी-अपनी आयु और स्थितियों के अनुसार अस्तित्व रक्षा के प्रश्न से जूझते दिखाई देते हैं। सभी की मूल चेतना एक ही है, उन्हें अपने हित नहीं, अन्धों के अधूरेपन के कारण संकट भोगने और उससे जूझने के लिए विवश होना पड़ रहा है। उससे छुटकारे के लिए ही वह स्व-विचारित कार्यभूमियों में जुटा रहकर अपने अस्तित्व को प्रभावित करने के लिए यत्नशील है। पर संत्रास और पीड़ा के सिवा उसे और कुछ भी प्राप्त नहीं होता। अस्तित्व के संकट से संत्रस्त होकर अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए ही महेन्द्रनाथ बार-बार जुनेजा की ओर लौटता है और सावित्री एक के बाद एक पुरुष बदलीकर प्राकृत दशा की ओर लौटती दृष्टिपथ होती है। इस प्रकार अपने ही अधूरेपन को पूरने के लिए सभी किसी पूर्ण पुरुष या आश्रय की खोज करते हुए दिखाई देते हैं। इसी उहापोह में सब जो और जैसे निर्णय करते हैं, वे सब व्यक्ति स्तर पर ही होते हैं। सावित्री का अनेक पुरुषों की ओर जाना, महेन्द्रनाथ का जुनेजा के पास गृह त्याग के लिए जाकर भी प्रत्यावर्तन, बड़ी लड़की बिन्नी का मनोज के साथ भाग जाना सभी के व्यक्ति स्तर पर किये गये निर्णय हैं। परिणामतः सभी अपनी-अपनी परिस्थितियों में अपने ही अस्तित्व के साथ लड़-भिड़ने का असफल प्रयास कर रहे हैं। वह भी

आसन्न संकट और संत्रास को भोगने के लिए असुविधाओं में सुविधाएँ पाने के लिए। सभी प्रकार से जीवन को ओढ़े रखकर ज्यों-ज्यों भोगते जाना परिवार के सभी सदस्यों की नियति भी है, विवशता भी है। इसी अर्थ में दार्शनिक धरातल पर 'आधे-अधूरे' नाटक मध्यवित्तीय परिवार के अस्तित्व के संकट को, उनके अधूरेपन को आद्यान्त उभारता दिखाई देता है। अब मुझसे नहीं सम्मेलना ।¹ और फिर पलायन की स्थिति बनती है—“एक गुवार सा हैं जो हर वक्त मेरे अंदर भरा रहता है और मैं इंतजार करती रहती हूँ जैसे कि कब कोई बहाना मिले जिससे उसे बाहर निकाल सकूँ ।² और मेरे करने से जो कुछ हो सकता था इस घर का, हो चुका आज तक । मेरी तरफ से यह अन्त है उसका—निश्चित अंत है।³ जुनेजा के शब्दों में आधुनिक अस्तित्व संकट से संत्रस्त नारी की स्थिति का विश्लेषण नाटककार ने ठीक ही करवाया है—“ तुम्हारे लिए जीवन का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें एक जगह न मिल पाता, इसीलिए जिस किसी के भी जिन्दगी शुरू करती तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बैचेन बरनी रहती।¹ यह स्थिति शायद आज अस्तित्व बोध के संकट से ग्रस्त, संत्रस्त प्रत्येक मध्य और निम्न मध्य वित्तीय स्थिति वाली नारी के सामने तो है ही पुरुष के सामने भी है । और—तात्पर्य यह है कि महेन्द्रनाथ हो या सावित्री पुरुष हो या नारी सभी की मनःचेतनाएँ उनका द्वन्द्व पूर्णतः एवं समग्रता आधुनिक अस्तित्ववादी दर्शन पर आधारित है ।² 'अस्तित्ववादी जीवन दर्शन की प्रेम सम्बन्धों के बारे में भी अपनी विशिष्ट दृष्टियाँ हैं । वही प्रिय मैं सर्वस्वता समग्र संसार मानकर चलने की अनुभूति रहा करती है । परोक्षतः यह दृष्टि अन्यों से नहीं अपने से ही प्रेम अभिव्यक्ति की परिचायक है ।³ पाश्चात्य विद्वान नीवेष के अनुसार वास्तविकता तो यह है

कि प्रेम में प्रमीजन परस्पर प्रेम की अभिव्यक्ति कर आश्वासन देकर अपने को तो धोखा देते ही हैं अन्यों (प्रिय) को भी प्रवंचित ही करते हैं । 'आधे-अधूरे' नाटक में सावित्री की समस्त क्रियाएँ प्रायः नीशे के उपर्युक्त विचारों के अनुरूप ही हैं । तभी तो अपने पति के मुख से जुनेजा का नाम तक सुनकर वह लगभग आपे से बाहर हो जाया करती है । एक दृष्टि से पति-पत्नी के रूप में सावित्री और महेन्द्रनाथ के अन्तः सम्बन्धों के विलयन और विघटन में उनके पारस्परिक प्रेम सम्बन्धों में मैत्री का आन्तरिक एवं मनोवैज्ञानिक व्यवधान भी विद्यमान है ।

अस्तित्ववादी चेतना के अनुरूप सभी अपने से ही प्रेम करते हैं, अपनी तुष्टि के लिए ही अन्यों से प्रेम एक तुष्टि का समाधान मानकर करते हैं । राकेश ने पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में भी यह स्थिति प्रगटायी है—“ तुम्हारे साथ उसका इतना ही सम्बन्ध है कि तुम एक उपादान हो, जिसके आश्रय से वह अपने से प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है । इसी प्रकार 'लहरों के राजहंस' में नंद के प्रति सुन्दरी का प्रेम उसके अपने अहं की पूर्ति और अभिव्यक्ति का माध्यम है । जैसे 'आधे अधूरे' की सावित्री अपने से बाहर महेन्द्रनाथ की स्थितियों की परिकल्पना नहीं कर पाती—नहीं करना चाहती, उसी प्रकार ही मानसिकता सुन्दरी की भी है—“ क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि वे अपनी इच्छा से उड़कर कहां चले जाते ?¹ इस प्रकार प्रेम का अस्तित्ववादी दर्शन यही है, सर्वत्र एक है । 'आधे-अधूरे' में सावित्री महेन्द्र के बारे में तो वह एक सत्य है ही बिन्नी मनोज में भी वही चेतना झांकती दिखाई पड़ती है । तभी तो महेन्द्र सावित्री टूट जाते हैं । बिन्नी मनोज से टूटकर लौट आती है और अशोक बिन्नी आदि नितान्त असहाय बनकर रह जाते हैं ।¹ इस तरह अस्तित्ववादी जीवन दर्शन मोहन राकेश के तीनों नाटकों में विद्यमान है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1-आषाढ़ का एक दिन: राकेश (अंक तीन), पृ 102 2-लहरों के राजहंस: (अंक तीन), पृ 112 3-आधुनिक नाटक का मसीहा : राकेश-डा० गोविन्द चातक, पृ 108 4-अस्तित्ववाद और साहित्य-श्यामसुन्दर मिश्र, पृ 011 5-(एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खंड 8, पृ 968) वहीं, पृ 19 6-साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि: मोहन राकेश, पृ 022 7-लहरों के राजहंस: समीक्षा-राजेश शर्मा, पृ 76 8-लहरों के राजहंस: विविधि आयाम-जयदेव तनेजा, पृ 62 9-लहरों के राजहंस: राकेश (अंक तीन), पृ 107 10-वहीं। 11-वही, पृ 0108 12-लहरों के राजहंस (1970): भूमिका-डा० सुरेश अवरथी, पृ 7 13-लहरों के राजहंस: राकेश (अंक तीन), पृ 0117-118 14-वही । 15-लहरों के राजहंस: विविधि आयाम-जयदेव तनेजा, पृ 67 16-आधे-अधूरे : समीक्षा-राकेश शर्मा, पृ 175-76 17-वहीं, पृ 176 18-वहीं, पृ 176 19-आधे-अधूरे-राकेश, पृ 39 20- वहीं ,पृ 31 21- वहीं, पृ 85 22-आधे-अधूरे: राकेश, पृ 106 23-आधे-अधूरे: समीक्षा- राजेश शर्मा, पृ 182 24- अपने नाटकों के दायरे में नाटककार मोहन राकेश: तिलकराज शर्मा, पृ 127 25-लहरों के राजहंस-राकेश, पृ 94 (अंक तीन) 26-आधे-अधूरे: समीक्षा-राजेश शर्मा, पृ 184